

साधना-1



ध्यान दें:

मोक्ष नाम के परमपुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए अद्वैतवेदान्त में प्रपञ्च को बताया गया है। जो बन्धन का अनुभव करता है उसको मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। जो बन्धन का अनुभव नहीं करता है लेकिन अन्यों की चेष्टाओं को देखकर के अपने बन्धन का भी अनुमान लगा लेता है तथा वह भी यहाँ पर मोक्ष पथ को ग्रहण कर सकता है। बन्धन से मोक्ष की प्राप्ति तक जो भी साधन हैं उनका क्या क्रम होता है। किस साधन से क्या प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार से अनेक विषय मुमुक्षु की जिज्ञासा करने वालों के होते हैं। इनके ही उपस्थान के लिए साधन की यहाँ पर पाठ रूप में प्रस्तुति की गई है। साधना का विषय बहुत ही महान तथा बहुत सूक्ष्म होता है। उसको सम्पूर्णरूप से यहाँ पर प्रकट करना सम्भव नहीं है। फिर भी संक्षेप रूप से प्रधान विषयों को यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

सम्पूर्ण साधनों का विभाजन करके विविध पाठ रचनाएँ की गई हैं।



उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन से आप समर्थ होंगे;

- अनुबन्धों को समास विधि से जानने में;
- अनुबन्धों के ज्ञान की आवश्यकता को जानने में;
- कर्म के रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करने में;
- कर्म का रहस्य जानने में समर्थ होंगे;
- साधना का कारण जानने में;
- अधिकारी तथा उसके द्वारा प्राप्तव्य सम्पत्ति के बारे में जानने में;
- सम्पत्ति के अर्जन के लिए क्या साधन क्रम से करना चाहिए यह विवेक जाग्रत हो करने में;



ध्यान दें:

21.1) भूमिका

वेदान्त के साधन विशिष्ट क्रम के द्वारा तथा विशिष्ट नामों के द्वारा प्रकट किये जाते हैं। साधक को साधना के द्वारा फल की प्राप्ति हो अतः इसके लिए उस फल की स्पष्टता आवश्यक है।

इसलिए इस विषय को प्रकट करने के लिए अनुबन्ध उपस्थापित किये जाते हैं। स्पष्ट ज्ञान के द्वारा कोई भी मानव पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए प्रयास करता है। क्योंकि

महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया।

पारं दुःखोदधेर्गन्तुं तर यावन्न भिद्यते॥

इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि मानव शरीर बहुत जन्मों में अर्जित महान पुण्यों के द्वारा प्राप्त होता है। यह शरीर एक प्रकार से कायारूपी नौका है। जो हमें दुःख रूपी सागर को पार करने के लिए मिली है। जब तक यह नौका टूट नहीं जाए तब तक हमें इसके द्वारा पार चला जाना चाहिए।

प्रत्येक दिन तथा सम्पूर्ण जीव जन्तु कर्म में रत रहता है। उसके कर्म का वेदान्त की दृष्टि से विवेचन करना चाहिए। उनको यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

21.2) कर्म

कर्म किये बिना कोई भी प्राणी एक क्षण भी रुक नहीं सकता है। सभी जन्तु कर्म में रत है। कायिक तथा मानसिक भेद से कर्म दो प्रकार के होते हैं। काम कर्म के हेतुओं का प्रवर्तक होता है। अर्थात् यदि कोई कर्म करता है तो उसकी प्रवृत्ति का हेतु क्या है। तो कहते हैं कि काम ही कर्म का हेतु होता। किस प्रकार से तो कहते हैं कि काम प्रवर्तक तथा प्रेरक होता है। यह काम किस से उत्पन्न होता है। यह काम आत्मज्ञान रहितों से उत्पन्न होता है। अनात्मवान से काम किस प्रकार से उत्पन्न होता है। क्योंकि काम ही अनात्म का फल विषय होता है। अब प्रश्न करते हैं कि यहाँ विषय क्या है। सुख तथा दुःख का परिहार रूपी विषय होता है। तथा उसका उपाय भी।

इसलिए उन कर्मों को शास्त्रों के माध्यम से जानता हुआ अथवा नहीं जानता हुआ भी जन्तु सुख के लाभ के लिए तथा दुःख के परिहार के लिए कर्मों का अनुष्ठान करता है। सुख का कारण धर्म होता है। तथा धर्म के कारण वेदादिविहित काम्य कर्म होते हैं। दुःख का कारण अधर्म होता है। दुःख का कारण वेदादिविहित निषिद्ध कर्म होते हैं। जो भी कर्म किये जाते हैं उनके कुछ फल तो तुरन्त प्राप्त हो जाते हैं। कुछ फल कुछ समय बाद इसी जन्म में प्राप्त होते हैं तथा कुछ फल अगले जन्म में प्राप्त होते हैं। आज के समाप्त कर्म का कालान्तर में फल किस प्रकार से प्राप्त होता है। तो वहाँ पर कहते हैं कि वर्तमान में किया गया कर्म तथा उसका कुछ दृष्ट फल तुरन्त उत्पन्न होता है। लेकिन उस कर्म का अन्तःकरण में भी कुछ विशिष्ट संस्कार उत्पन्न होता है। यह संस्कार यदि निषिद्धकर्मजन्य होता है तो वह संस्कार अधर्म तथा पाप इस प्रकार से कहलाता है। धर्म तथा अधर्म दोनों ही फलदान में नियत होते हैं। अर्थात् उन दोनों का फल प्राप्त होता ही है। इस प्रकार से फल भोग के द्वारा पाप तथा पुण्य की शान्ति होती है। यदि जन्तु निषिद्ध कर्म करता है तथा उसका अनिष्ट फल नहीं चाहता है तो निषिद्धकर्म से उत्पन्न होने वाले पाप के नाश के लिए उसे तुरन्त प्रायश्चित्त कर्म करना चाहिए।

काम्य तथा निषिद्ध कर्मों को करने पर उनके द्वारा अन्तःकरण में उत्पन्न संस्कार आगे कभी

भी फल दे सकते हैं। इस प्रकार से हमारे साथ बहुत जन्मों में किए गये संस्कार होते हैं। वे सभी भी संचित कर्म कहलाते हैं। उनमें जो कर्म परिपाक वश फल देने में शुरू होता है वह प्रारब्धकर्म कहलाता है। एक जन्म के मृत्युपर्यन्त कारणस्वरूपसुख दुःखात्मकफलदायक कर्म प्रारब्ध कहलाते हैं। प्रारब्ध समाप्त होने पर मृत्यु हो जाती है। उसके बाद संचितकर्मों में जो कर्म फलोन्मुख होते हैं। उसके बाद संचित कर्मों में जो फलोन्मुख होते हैं उनके कारण फिर से जन्म होता है। तब वह संचित कर्म फल देना शुरू करते हैं और अब वे प्रारब्ध कहलाते हैं। प्रत्येक जन्म में मानव जो कर्म करता है। उसका धर्माधर्मरूप संस्कार विशेष होता है। इसलिए प्रत्येक जन्म में जो कर्म किए जाते हैं। वे क्रियमाण कर्म कहलाते हैं। इस प्रकार से एक ही जन्म में प्रारब्धों का क्षय होता है तथा नूतन संचित की उत्पत्ति होती है। वह संचित कर्म परिपक्व होने पर प्रारब्धत्व के रूप में परिणित होता है। इस कारण से जन्तु जन्म जन्मांतरों को प्राप्त करता है। वहाँ केवल मनुष्य लोक की ही कर्म भूमि होती है जिसमें कर्म करने पर धर्म तथा अधर्म उत्पन्न होते हैं। पशु पक्षी आदि की तिर्यग् योनि केवल भोगों को भोगने के लिए ही होती है। वहाँ पर किए गये कर्मों के धर्म तथा अधर्म नहीं होते हैं। पूर्व जन्मों में किए गए कर्म फलोन्मुख होकर धर्म तथा अधर्म के फलोपभोग ही होते हैं। वैसे ही महान् पुण्य के प्रताप से प्राप्त देवशरीर की भी स्थिति होती है। वहाँ पर भी पूर्वकृत पुण्य का फलोपभोग होता है। जब पुण्यों का क्षय होता है तब फिर मृत्युलोक में जन्म होता है। इसलिए भगवान् श्री कृष्ण ने श्रीमद्भगवद् गीता में कहा है।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। (गीता 9.21)

अर्थात् - वे सोमापान आदि के द्वारा पापरहित होकर पुण्यों के फल को लेकर के स्वर्ग लोक को जाते हैं। वहाँ पर विशाल स्वर्गलोक का भोग करके फिर पुण्यक्षीण होने पर मृत्यु लोक में आ जाते हैं।

कर्मफलत्व से विविध लोकों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार से श्रुतियों तथा स्मृतियों में भी बहुत प्रकार से प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार से विविध कर्मों के द्वारा विविध जो लोक प्राप्त होते हैं वे इस श्लोक में संक्षेप से कहे गये हैं।

शुभैराप्नोति देवत्वं निषिद्धैर्नारकीं तनुम्।

उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवशः॥ (नैष्कर्म्यसि.1.41)

जब तक कोई उपाय नहीं किया जाता है। तब तक संचित कर्म प्रारब्धत्व के रूप में परिणित होते जाते हैं। इसलिए जन्म होता है। उस जन्म में प्रारब्ध का नाश तो होता है, लेकिन क्रियमाण कर्म संचितत्व के रूप में परिणित होते हैं। संचित कर्मों में बहुत प्रकार के कर्म होते हैं। उनमें से कोई भी एक परिपक्व होकर के प्रारब्धत्व के रूप में परिणित होता है। इस प्रकार से कर्म चक्र चलता ही रहता है। कर्म फल को देने में नियत होते हैं। अर्थात् किए गए कर्म का फल तो होता ही है जबतक उसके परिहार का उपाय कल्पित नहीं किया जाए। इस प्रकार से कर्म ही बलपूर्वक जन्म करवाते हैं तथा मृत्यु करवाते हैं। सुख तथा दुःखों का भोग भी करवाते हैं। यह ही बन्धन है जो चक्र के समान जन्म तथा मृत्यु के रूप में प्रवर्तित होता है। यह संसार चक्र कहा जाता है। इस बन्धन से बचना ही मोक्ष कहलाता है।



ध्यान दें:



ध्यान दें:



पाठगत प्रश्न 21.1

1. महता महानपुण्यपण्येन इत्यादि श्लोक को लिखकर के उसके सरलार्थ को लिखिए।
2. कर्मप्रवृत्तिकारणपरम्परा को लिखिए।
3. किस को नहीं करके जन्तु एक भी क्षण नहीं रुक सकता है।
 - (क) कर्म
 - (ख) उपासना
 - (ग) धर्म
 - (घ) प्रायश्चित्त
4. कर्म का हेतु क्या होता है?
 - (क) शरीर
 - (ख) काम
 - (ग) प्रारब्ध
 - (घ) सञ्चित
5. सुख का कारण क्या है?
 - (क) धर्म
 - (ख) अधर्म
 - (ग) कर्म
 - (घ) अज्ञान
6. काम्यकर्मजन्य अन्तःकरण में कौन-सा संस्कार होता है?
 - (क) धर्म
 - (ख) अधर्म
 - (ग) भय
 - (घ) सुख
7. निषिद्धकर्मजन्य अन्तःकरण में कौन-सा संस्कार होता है?
 - (क) धर्म
 - (ख) अधर्म
 - (ग) भय

- (घ) सुख
8. कौन-से कर्म संचित कर्म होते हैं?
- (क) पूर्वजन्म में किये गये कर्म जो फलदान प्रारब्ध नहीं होते हैं।
- (ख) पूर्वजन्म में किये गये कर्म जो फल प्रदान करने में प्रारब्ध होते हैं।
- (ग) इस जन्म में किये गए कर्म।
- (घ) अगले जन्म में करिष्यमाण कर्म।
9. स्वर्गादि लोकों को जाकर के फिर मनुषादेहादि प्राप्ति होती है। यहाँ पर प्रमाण वचन क्या है?

21.3) साधना का कारण क्या है

मानव का अन्तःकरण तीन दोषों के कारण दूषित होता है। वे तीन दोष हैं मल, विक्षेप तथा आवरण। मल के अशुद्ध चित्त विषयों में आकृष्ट होता है। वह ही चित्त विक्षेप कहलाता है। विक्षेप होने से एकाग्रता नहीं होती है। एकाग्रता के अभाव में निदिध्यासन सम्भव नहीं होता है। निदिध्यासन के अभाव में समाधि नहीं होती है। समाधि के अभाव में आवरण नहीं हटता है। इसलिए मोक्ष नहीं होता है। अतः मल के नाश होने से विक्षेप का नाश होता है। तथा विक्षेप के नाश होने से ही आवरण का नाश सरलता से हो जाता है।

चित्त का मल

चित्त का मल क्या होता है। किस प्रकार से चित्त मलिन होता है। चित्त में मल है इसे कैसे जाना जाता है। तथा चित्त के मल की शुद्धि किस प्रकार से की जाती है। चित्त की शुद्धि हो गई अथवा नहीं हुई इसको कैसे जाना जा सकता है। चित्त शुद्ध होने के बाद क्या करना चाहिए।

चित्त का मल पापा होता है। निषिद्धकर्मों के आचरण से पाप उत्पन्न होता है। पाप से आपन्न चित्त मलिन हो जाता है। निषिद्धकर्मों के आचरण से वासना के द्वारा चित्त मलिन होता है। नित्य आदि निष्काम कर्मों के द्वारा चित्त की शुद्धि करनी चाहिए। निषिद्ध कर्मों के आचारणों की जब गति होती है तब चित्त का मल भी कम होता चला जाता है। इसी विषय को गीता की सहायता से आगे विस्तारपूर्वक कहा जाएगा। चित्त शुद्ध हो जाने पर उसके बाद चित्त के विक्षेप के नाश के लिए उपासना करनी चाहिए।

चित्तविक्षेप

चित्त का विक्षेप क्या होता है। किस प्रकार से चित्त विक्षिप्त होता है। चित्त विक्षिप्त है इसका किस प्रकार से ज्ञान होता है। विक्षेपचित्त की शान्ति किस प्रकार से करनी चाहिए। चित्त शान्त है अथवा नहीं इसे किस प्रकार से जानना चाहिए। चित्त की शान्ति होने पर क्या करना चाहिए।

चित्त का चाञ्चल्य ही चित्त का विक्षेप कहलाता है। विषयों के प्रति चित्त का आकर्षण ही विक्षेप होता है। चित्त मलिन होता है। तो भोग्य वस्तु का आकर्षण होता है। जिससे चित्त में विक्षेप उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् चित्त का चाञ्चल्य ही विक्षेप बन जाता है। उपासना के द्वारा चित्त की शान्ति, अर्थात् एकाग्रता सम्पादित होती है। विक्षेप के कम होने से चाञ्चल्य में भी कमी आ जाती है।



ध्यान दें:



ध्यान दें:

चित्त शान्त है अथवा नहीं इसके ज्ञान के लिए जैसे वायु रहित स्थान में स्थित दीपक प्रज्वलित होता है अथवा जैसे जैसे धारा अविच्छिन्न होती हुई गिरती है। उसी प्रकार उपासना करने वाले के ब्रह्म में लगे हुए चित्त की शान्ति होती है।

अज्ञानावरणम्

अज्ञानावरण क्या होता है यह कैसे उत्पन्न होता है। कैसे पता चलता है की यह अज्ञान का आवरण है। तथा आवरण का भङ्गा किस प्रकार से किया जाता है।

अनात्म में आत्मबुद्धि आवरण से होती है। आनात्मों में आत्मबुद्धि से आवरण बढ़ता है। ब्रह्म ज्ञान के द्वारा इस आवरण का नाश होता है।

21.4) अनुबन्ध

संस्कृत की परम्परा में ग्रन्थकार चार प्रकार के अनुबन्धों को प्रत्यक्ष रूप से तथा परोक्ष रूप से ग्रन्थ के आदि में उपस्थापित करते हैं। वे होते हैं अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन। इन चारों का समुदाय ही अनुबन्ध चतुष्टय कहलाते हैं। जो अपने ज्ञान के द्वारा बाँधते हैं, शास्त्र तथा ग्रन्थ में प्रेरित करते हैं वे अनुबन्ध कहलाते हैं इस प्रकार से यह अनुबन्ध शब्द की व्युत्पत्ति है। उसका इस प्रकार से लक्षण किया जाता है। ग्रन्थप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वम्। ग्रन्थ में प्रवृत्ति का जो प्रयोजक जो ज्ञान विषय होता है वह अनुबन्ध कहलाता है। तथा जिस विषय को जानते हुए ग्रन्थ में प्रवर्तित होते हैं वह अनुबन्ध कहलाता है। इसलिए ग्रन्थ के आदि में अनुबन्धों को उपस्थापित किया जाता है। वह परम्परा इस प्रकार से है।

ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।

ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥ (श्लोकवार्तिकम् 1.1.17)

श्रोता तथा ज्ञाता ग्रन्थ के अर्थ तथा सम्बन्ध को जानकर के ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए ग्रन्थ के आदि में विषय सम्बन्ध तथा प्रयोजन इनका उल्लेख किया जाता है।

इसलिए भट्टपाद के द्वारा श्लोकवार्तिक में कहा गया है।

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।

यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते॥

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।

वे अनुबन्ध यहाँ पर श्लोकबद्ध है

अधिकारी च विषयः सम्बन्धश्च प्रयोजनम्।

शास्त्रारम्भफलं प्राहुरनुबन्धचतुष्टयम्॥6॥ (स.वे.सि.सा.संग्रहः)

अनुबन्धों के क्रम में भी कोई विशेषता होती है। अधिकारी, विषय सम्बन्ध तथा प्रयोजन इस प्रकार से अनुबन्धों को क्रम से उपस्थापित करने में कोई नियम अवश्य है। वह नियम है की शास्त्र के ज्ञाता के बिना शास्त्र में प्रवृत्ति सम्भव नहीं होती है। इसलिए शास्त्र के ज्ञाता अधिकारी का उल्लेख सबसे पहले किया गया है। भले ही अधिकारी की उपस्थिति होती है। फिर भी जो विषय होते हैं उनका सामान्य ज्ञान तो अधिकारी को ही होता है। क्योंकि विषय ज्ञानहीन अधिकारी की शास्त्र में प्रवृत्ति असम्भव होती है। इसलिए दूसरा अनुबन्ध विषय होता है। विषय के साथ शास्त्र का अथवा विषय के साथ पुरुष के सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक होता है। इसलिए सम्बन्ध का तृतीय स्थान में उल्लेख किया गया है। प्रयोजन की हमेशा अन्त में अवस्थिति होती है। इसलिए उसका चतुर्थ स्थान में उल्लेख किया गया है।



पाठगत प्रश्न 21.2

- मानवों के अन्तःकरण के दोष कितने होते हैं तथा वे कौन-कौन से हैं?
- चित्त का मल क्या होता है तथा चित्त के मल को किस प्रकार से जाना जा सकता है?
- चित्त का विक्षेप क्या होता है तथा उसे किस प्रकार से जाना जा सकता है?
- अज्ञान का आवरण क्या होता है? तथा उसे किस प्रकार से जाना जा सकता है।
- चित्त का मल नाशक कर्म कौनसा होता है।
 (क) काम्य
 (ख) निषिद्ध
 (ग) नित्यादिक
 (घ) श्रवणादिक
- चित्त के विक्षेप का नाशक क्या होता है?
 (क) काम्य
 (ख) निषिद्ध
 (ग) नित्यादिक
 (घ) श्रवणादिक
- अज्ञानावरण नाश के उपाय किसके द्वारा होते हैं?
 (क) काम्यकर्म के द्वारा
 (ख) निषिद्ध के द्वारा
 (ग) नित्यादिकर्मों के द्वारा
 (घ) ब्रह्मज्ञान के द्वारा
- अनुबन्ध कितने होते हैं तथा वे कौन-कौन से हैं।

21.5) अधिकारी

न निरोधो न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।

न मुमुक्षुर्न वैमुक्त इत्येषा परमार्थता॥ (गौडपादीयकारिका 2.32)

आत्मा कभी भी बद्ध नहीं होती है। जो बद्ध नहीं होती है तो उसके मोक्ष का विचार क्यों किया जाता है। बद्ध को ही मोक्ष के लिए ही साधन करने चाहिए। जो बद्ध ही नहीं है, तो उसको साधना की आवश्यकता भी नहीं है। जो बद्ध होता है उसकी ही मुमुक्षा सम्भव होती है। आत्मा तो मुमुक्षु भी नहीं होती है। आत्मा का निरोध भी नहीं होता है। तथा उसकी उत्पत्ति भी नहीं होती है। परमार्थत्व से यह ही स्थिति होती है। फिर भी वह यह सोचता है कि मैं बद्ध हूँ इसलिए वह बद्ध होता है। और वह ही मोक्ष के लिए यतन करता है। उसको मोक्ष लाभ प्राप्त होता है अथवा नहीं इस ज्ञान के लिए यह विषय प्रस्तुत



ध्यान दें:



ध्यान दें:

किया जा रहा है।

अधिकारी कौन होता है। अधिकारी अधिकृत होता है। सभी जगह जो विद्वान् अर्थ को समझने में समर्थ होता है वह ही अधिकारी समझा जाता है। जैसे किसी व्यक्ति की सम्पत्ति होती है। उसकी सम्पत्ति लाभ में किसका अधिकार है, कौन अधिकृत है तथा कौन अधिकारी है। तो कहते हैं कि जो उस व्यक्ति का पुत्र होता है। वह ही वहाँ पर अधिकृत होता है। उसी प्रकार से यहाँ पर अधिकारी कौन है तो इससे पहले ये भी जानना चाहिए की वह किसका अधिकारी है। परम पुरुष को जो चाहता है वह अधिकारी है।

वेदान्त शास्त्र में तो पुरुषपरमत्व के द्वारा मोक्ष की कामना को बताया गया है। कुछ साक्षात् मोक्ष की कामना करते हैं तो कुछ दूर से। इसलिए मोक्ष प्राप्त करने लिए भी अधिकारी होना आवश्यक है। जैसे कोई वाराणसी जाने का अधिकारी है अथवा नहीं सर्वप्रथम इसकी मीमांसा करते हैं। सबसे पहले तो उसकी वाराणसी जाने की इच्छा है अथवा नहीं। यदि इच्छा है तो जाने हेतु मार्गव्यय के लिए पर्याप्त धन है अथवा नहीं। यदि धन है तो वह जाने के लिए योग्य है तथा अधिकारी भी है। इतना सब होने पर भी वह वाराणसी को प्राप्त नहीं करता है क्योंकि वहाँ पहुँचने के लिए उसे गमन क्रिया करनी ही पड़ेगी। उसी प्रकार से यहाँ पर भी जिसने साङ्गपूर्वक सभी वेदों का अध्ययन कर लिया है। जो सम्पूर्ण वेद को शुरू से अन्त तक जानता है। जिसका चित्त एकदम शुद्ध तथा एकाग्र है, जिसकी मोक्षेच्छा भी है जिसकी साधनचतुष्टय सम्पत्ति भी है। वह मोक्ष साधना का अधिकारी गिना जाता है। लेकिन केवल इन सब के होने मात्र से ही उसका मोक्ष सिद्ध नहीं होता है। इसके लिए साधनों अनुष्ठान तो करना ही चाहिए। मोक्ष लाभ के लिए गुरु के समीप जाना चाहिए। श्रवणादि कार्य करना चाहिए। इस प्रकार से अधिकारी के रूप में यहाँ पर वेदार्थ को जानने वाला। निर्मलचित्त, एकाग्रचित्त तथा साधनचतुष्टयसम्पन्न का ही ग्रहण होता है।

इसी प्रकार से गुरु के द्वारा भी किसी शिष्य के लिए विद्या देना चाहिए तो उसके लिए नीचे श्लोक में कहा गया है।

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय

प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।

गुणान्वितायानुगताय सर्वदा

प्रदेयमेतत् सततं मुमुक्षवे॥

प्रशान्तचित्तवाला, शमगुणयुक्त, जितेन्द्रिय, दमगुण युक्त, शुद्ध चित्तवाला, गुरु तथा शास्त्र के द्वारा जिस प्रकार से कहा गया है उसका पूर्ण रूप से जो आचरण वाला अधिकारी कहलाता है। वह विवेक वैराग्य, उपरति, तितिक्षा, समाधान, आदि गुणों से युक्त चाहिए श्रद्धावान् तथा गुरु सेवा परायण होना चाहिए।

किसका अधिकारी

किसका अधिकारी यह प्रश्न उत्पन्न होता है। अर्थात् अधिकारी का अधिकार कहाँ किस वस्तु में कितना होना चाहिए। यह तो स्पष्ट ही है की ग्रन्थ में जो प्रयोजन कहे गये हैं, उन प्रयोजनों के लाभ के लिए अधिकारी ग्रन्थ का अध्ययन करता है। तथा उसमें कहे गये साधनों का अनुष्ठान करता है। इसलिए प्रतिपाद्यमान फल के लाभ के लिए अधिकारी सुस्पष्ट होना चाहिए। वेदान्त के मत में जो मोक्ष का प्रयोजन है। उसके लाभ के अधिकारी वेदान्त ग्रन्थों में कहे गये हैं। ग्रन्थ को कोई भी पढ़ता है, शाब्दिक अर्थ भी जानता है। फिर भी कोई योग्यता आवश्यक है। फिर भी यदि वह वेदान्त अधिकारी आवश्यक कहे गये लक्षणों से सम्पन्न नहीं होता है तो उसे कहे गये फल की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए

ग्रन्थ के अध्ययन में अधिकारी भले ही कहा गया है। फिर भी वह प्रतिपाद्यमान प्रयोजन के लाभ के लिए अधिकारी हो इस प्रकार से समझना चाहिए। नहीं तो शान्त दान्त उपरति तितिक्षु इत्यादि गुण सम्पन्न वेदान्तसारादि ग्रन्थों के अध्ययन में अधिकारी होता है इस प्रकार की आपत्ति हो जाएगी। क्योंकि नास्तिक भी इस ग्रन्थ को पढ़ते हैं।

वेदान्तसाराग्रन्थ में अधिकारी का स्वरूप कहा गया है

अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेन आपाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता इति।

सरलार्थ जो लौकिक तथा वैदिक व्यवहारों में अभ्रान्त जो जीव होता है। वह ही प्रमाता कहलाता है। स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस श्रुति वचन के अनुसार जो वेदों का साङ्ग विधिवत् अध्ययन करके संशयाविरोधि निश्चयरूप से समग्र वेदार्थ को जानता है। तथा यह जानता है कि कर्तव्यत्व तथा वर्जनीयत्व का पालन कैसे करना चाहिए। जो काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का त्याग करता है। नित्य नैमित्तिक तथा प्रायश्चित्त कर्मों के अनुष्ठान से जिसके धर्माधर्म रूपी निखिल कल्मष निकल चुके हैं। कल्मषों के निकल जाने से जिसका अन्तःकरण नितान्त निर्मल है। उपासना के अनुष्ठान से जिसका चित्त विक्षेप रहित एकाग्र तथा समाहित है। जो साधनचतुष्टय से सम्पन्न है। वह ही यहाँ पर अधिकारी के रूप में माना जाता है। अर्थात् जो प्रमाता है वह ही अधिकारी है।

इसका सविस्तार आलोचन आगे उपस्थापित किया जाएगा। यहाँ पर ही कहे विषय इस के बाद में प्रतिपादनीय है। फिर भी प्रसक्त-अनुप्रसक्त और भी कुछ विषय उपस्थापित किये जाते हैं। बहुत स्थानों पर तो विषय दृढत्व सम्पादित करने के लिए श्रुति तथा स्मृतियों के वचनों का भी उपस्थापन किया जाएगा। बहुत से स्थानों पर तो भगवान् भाष्यकार आचार्य शङ्कर के वचनों की व्याख्या भी की जाएगी।

अधिकारी के कर्मों में उक्त कर्मों की उपासना तथा इनका अनुष्ठान तभी सम्भव होगा जब प्रमाता ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व इन वेदों का अर्थ सामान्य रूप से जानता होगा। वेदों का अर्थ ज्ञान वेदाङ्गज्ञानपूर्वक ही सम्भव होता है। व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, शिक्षा, कल्प तथा छन्द ये छः वेदाङ्ग होते हैं। छः प्रकार के वेदाङ्गों साथ ही वेदों के सम्यक् अर्थ का ज्ञान सम्भव होता है। इसके अलावा और कोई उपाय नहीं है। इसलिए वेदों के अर्थ के परिज्ञान के लिए विधि पूर्वक षडङ्ग सहित वेदों का अध्ययन आवश्यक है। इसलिए लक्षण में “विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेन” यह कहा गया है। वर्तमान समय में कुछ लोग भान्ति के कारण विधिविधान का त्याग करके जिस किसी भी क्रम से ग्रन्थों को इधर उधर से पढ़ते हैं। इसलिए वे वेदोक्त फल को प्राप्त नहीं करते हैं। वे वीत श्रद्धा वाले होते हैं। इसमें शास्त्र का कोई दोष नहीं है। अतः विधिवत तरीके से ही वेदवेदाङ्गों का अध्ययन करना चाहिए। तब वह सम्प्रदायविद होता है।

यहाँ पर एक प्रश्न होता है कि वेदों में ही वेदान्त का अन्तर्भाव है। यदि वेदाङ्ग सहित विधि का अनुसरण करके कोई वेद का अध्ययन करता है तो उस प्रमाता को वेद के अध्ययन के समय ही वेदान्त तत्व का ज्ञान हो जाता है। फिर उसे अलग से वेदान्तशास्त्र के ज्ञान के लिए योग्यता अर्जित नहीं करना चाहिए। और नहीं गुरु के समीप जाकर के श्रवणादि करना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि प्रश्न के प्रशमन के लक्षण में आपततः इस पद का प्रयोग किया गया है। आपाततः इसके प्राथमिक अर्थ होता है कि जो प्राथमिक वेदार्थ को जानता है लेकिन वेदान्त के तात्पर्य को नहीं जानता है उस प्रकार का प्रमाता ही यहाँ पर अधिकारी कहलाता है। इसलिए उसे संशय अविरोधि निश्चयात्मक ज्ञान विधिवत् वेदाध्ययन के द्वारा सम्पादित करना चाहिए। यह संशयाविरोधि निश्चयात्मक ज्ञान क्या होता



ध्यान दें:

साधना-1



ध्यान दें:

है तो कहते हैं कि यदि निश्चय हो जाए तो संशय का निवारण हो जाता है। संशय तथा निश्चय क्या होता है तो कहते हैं कि प्राथमिक वेदाध्ययन के द्वारा जो निश्चय होता है उससे असम्भवाना विपरीत भावना तथा संशय विपर्यय का निवारण नहीं होता है। संशय विपर्यय का निवारण नहीं होने पर ब्रह्म ज्ञान भी नहीं होता है। इनके नाश के लिए अधिकारी को श्रवण मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिए। वेदों का अध्ययन करके काम्यादि कर्मों का त्याग करके नित्यादी अनुष्ठानों को करके चित्त शुद्ध तथा एकाग्र होता है तो संशय तथा विपर्यय की निवृत्ति भी सम्भव होती है। लेकिन जब प्राथमिकरूप से वेदों को पढता है तब वेदाध्ययन का अधिकार भले ही उसको होता है लेकिन फिर भी वह मोक्ष का अधिकारी नहीं होता है। इस प्रकार से संशय विपर्यय के द्वारा प्रतिबद्ध निश्चयात्म ज्ञान ही यहाँ पर आपाततः वेदार्थज्ञान मानना चाहिए।

विधिपूर्वक वेदाध्ययन, वेदार्थज्ञान काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का परित्याग नित्यनैमित्तिक प्रायश्चित्त तथा उपासना का अनुष्ठान इत्यादि कर्मों करने पर भी पूर्वजन्म में जो कर्म किए गये हैं उनका फल तो प्राप्त होता ही है। जो पूर्व जन्म में इन कर्मों को साधा हुआ होते हैं उसके लिए वर्तमान जन्म में नित्यादि कर्मों की आवश्यकता नहीं होती है। यहां पर यह प्रमाण है कि जगत में कुछ विदुर धर्म व्याध आदि पुरुष उत्पन्न हुए हैं वे द्विजकुलो में उत्पन्न नहीं हुए अपितु अन्य कुलों में उत्पन्न हुए हैं। उनके पूर्वजन्म में सम्पादित नित्यादि कर्मों के द्वारा उनका चित्त शुद्ध होता है। इसलिए उनमें ज्ञानोदय दिखाई देता है। उन्होंने इस जन्म में भले ही वेदाध्ययन वैदिककर्मों का अनुष्ठान भले ही नहीं किया है फिर भी वे उसके बिना ही वेदान्त के अधिकारी माने जाते हैं। अनेक महापुरुष एक ही जन्म में विधि पूर्वक वेदाध्ययन के द्वारा नित्यादिकर्मों के अनुष्ठान के द्वारा वेदान्त में अधिकार के लाभ के लिए प्रयास करते हैं। लेकिन साधारण जन तो बहुत जन्मों में किए गये तपस्यादि बल के द्वारा अधिकारी होते हैं। इसलिए भगवान श्री कृष्ण ने गीता में कहा है-

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ (भ.गी.6.45)

संशुद्ध किल्बिष तथा विनष्ट पाप युक्त वह व्यक्ति होता है जिसके सभी पाप नष्ट हो चुके हैं। तथा जो बहुत अधिक प्रयास रत है वह योगी पुरुष अनेक जन्मों से परिशुद्ध होता हुआ उस परम गति को प्राप्त करता है।

अर्थात् जो पुरुष विधि का अनुसरण करके शास्त्रोक्त कर्मों का आचरण करता है। उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार से बहुत जन्मों में वह शुद्ध होकर के मुक्तिरूप परमगति को प्राप्त करता है। इस प्रकार से इसका यह भावार्थ होता है।

विद्यारण्य मुनि ने पञ्चदशी में कहा है

कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुज्यते।

नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते॥

ब्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिमा॥ (प.द.1.30)

भोग के लिए, सुख दुःख के अनुभवों के लिए मनुष्यादि शरीर को प्राप्त करके जीव पुण्यजनक तथा पापजनक कर्मों को करता है। फिर कर्म को करने के लिए पूर्वकृत कर्मों के फल को भोगता है। जबतक पूर्व कृत फलों के उपभोगों का लय नहीं होता है तब तक वह नये कर्मों को नहीं कर सकता है। इसलिए फिर नये कर्मों को करता है। जिस प्रकार से आवर्त (जलाशय) पतित कीट आवर्त से आवर्तान्तर (अन्य जलाशयों में) जाते हैं उसी प्रकार से जीव भी जन्म जन्मान्तरों के फलों को प्राप्त करते हैं। तथा निवृत्ति को प्राप्त नहीं करते हैं। इस प्रकार से बहुत जन्मों के बाद कभी उद्बोध सम्भव होता है।

“सत्कर्मपरिपाकात् ते करुणानिधिनोद्धृताः।

प्राप्य तीरतरुच्छायां विश्राम्यन्ति यथासुखम्॥” इति। (1/31)

जिस प्रकार से कीट सत्कर्म के परिपाक के कारण करुणानिधि कृपालु किसी पुरुष विशेष के द्वारा बचकर नदी के जल प्रवाह से किसी वृक्ष की छाया को प्राप्त करके वहाँ पर जिस प्रकार से विश्राम को प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार से जीव भी संसार रूपी आवर्त में बहुत जन्मों को भोगकर के सत्कर्म के परिपाक होने से करुणानिधि परमकृपालु गुरु के द्वारा उद्धृत होकर के रक्षित होते हैं। इसलिए आत्मा की शुद्धि के लिए बहुत जन्म आवश्यक होते हैं यह प्रमाणित हो चुका है। इसलिए अधिकारी के लक्षण में वेदान्तसार में – “अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा” इस प्रकार से कहा गया है। इस प्रकार से अधिकारी के लक्षण सामान्य रूप से प्रदर्शित किए गये हैं। अब उसका विस्तार आवश्यक है।

अब तक यह तो सिद्ध हो चुका है कि विधिवत् वेदाङ्ग सहित वेदों का अध्ययन करना चाहिए। वह एक जन्म में अथवा बहुत जन्मों में हो। विधिवत् अध्ययन इसका यह अर्थ है की तीन वर्णों वाले ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्यों का उपनय संस्कार करना चाहिए। वहाँ से गुरुगृह में जाना चाहिए। वहाँ पर स्थित होकर के ब्रह्मचर्य का पालन करके वेदाङ्गों के सहित वेदों का अध्ययन करके विधिवत् तरीके से अध्ययन करना चाहिए। वेदान्त के तत्वज्ञान के लिए वेदों का आपाततः अर्थज्ञान होना आवश्यक है। वेदों के अर्थ ज्ञान के द्वारा ही कर्तव्य अकर्तव्यत्व विवेक होता होना चाहिए। वेदों के अध्ययन के लिए गुरुगृह में जाना तथा वेदान्त श्रवण के लिए भी गुरु के समीप जाना इस प्रकार से दो बार गुरु के समीप जाना चाहिए।

21.5.1) वेदान्तोक्त मार्ग का अधिकारी के द्वारा कहाँ से अनुसरण करना चाहिए।

निरुपाधिद्वेषविषयीभूत चित्तवृत्ति दुःख होती है। वह दुःख फिर चित्तधर्म हो जाता है। और वह बुद्धितत्व का परिणाम विशेष होता है। वह रजो गुण का कार्य होता है। दुःख तीन प्रकार का होता है। आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक। वहाँ पर आध्यात्मिक दो प्रकार का होता है शारीरिक तथा मानसिक। शरीर वातपित्तलेष आदि के वैषम्य के निमित्त होता है। तथा मानस काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या आदि विषयों के विशेष दर्शन के निबन्ध से होता है। इस प्रकार से यह सभी दुःख आन्तरोप्यसाध्यत्व से आध्यात्मिक दुःख कहलाता है। बाह्य साधनों से जो दुःख होता है वहा दो प्रकार का होता है। आधिभौतिक तथा आधिदैविक। वहाँ आधिभौतिक दुःख मानुष पशुपक्षी सरीसृप आधिस्थावरों के कारण होता है। तथा आधिदैविक यक्ष राक्षस विनायक तथा ग्रहों के कारण होता है।

दुःख तीन प्रकार का होता है। उनकी निवृत्ति विभिन्न उपायों के द्वारा सम्भव होती है। तीन प्रकार के दुःखों के नाश को सभी चाहते हैं। औषधि आदि के द्वारा रोगादि दुःख दूर हो जाते हैं। भोजनादि के द्वारा क्षुधादिजनित दुःख दूर हो जाते हैं। तथा शस्त्रास्त्रादि के द्वारा चौरव्याघ्रादि भजजिनित दुःखों की निवृत्ति होती है। तन्त्र मन्त्रादि के प्रयोग से प्रेत पिशाचादि के दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार से इनके अनेक उपाय होते हैं। इन दुःखों के सत् होने के कारण में वेदान्त दर्शन दुःखों के नाश के लिए प्रवर्तित हुआ है। वेदान्त मत के अनुसार तो अविद्या तथा उसका कार्य यह जगत होता है। इन दोनों की निवृत्ति जब होती है तब ही वस्तुतः दुःखों की निवृत्ति सम्भव होती है। अब कहते हैं कि दुःखों की निवृत्ति तो पूर्व में बताए हुए प्रकारान्तर उपायों के माध्यम से भी हो रही थी फिर वेदान्त की आवश्यकता क्या है, इस प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। तो कहते हैं कि यह तो सत्य है की औषधि आदि के माध्यम से दुःखों की निवृत्ति सम्भव होती है। लेकिन वह आत्यन्तिक नहीं होती है। अर्थात् जिस निवृत्ति के बाद



ध्यान दें:

साधना-1



ध्यान दें:

में फिर दुःखों की उत्पत्ति नहीं होती है वह आत्यन्तिक निवृत्ति कहलाती है। आत्मज्ञान के बिना आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव नहीं होती है। औषधि आदि के द्वारा भले ही दुःख की निवृत्ति होती है। फिर भी एकान्ततया निवृत्ति नहीं होती है। अर्थात् ये उपाय एकान्त उपाय नहीं माने जाते हैं। एकान्त इसका अर्थ है निश्चयरूप से फलदायी। वेदान्त के द्वारा दुःख की निवृत्ति निश्चय पूर्वक होती है। इसलिए वेदान्त एकान्तोपाय कहा जाता है। अतः वेदात्तमार्ग का ही अनुसरण करना चाहिए यह सिद्धान्त होता है।



पाठगत प्रश्न 21.3

- वेदान्त के अधिकारी का किसमें अधिकार होता है?
 - ग्रन्थाध्ययन में
 - वेदान्तश्रवण में
 - नित्यादिकरण में
 - मोक्षलाभ में
- वेदान्तशास्त्र में पुरुष परमत्वरूप से क्या कामना करता है?
 - स्वर्ग की
 - मोक्ष की
 - बन्धन की
 - दुःखनाश की
- वेदान्त में कहे गये प्रयोजन के लाभ के लिए अधिकारी कौन होता है?
- वेदान्तसार में कहे गये अधिकारी के लक्षण में आपाततः इसके द्वारा क्या समझना चाहिए।
- नित्यादि कर्म प्रत्येक जन्म के कर्तव्य होते हैं अथवा नहीं प्रस्तुत कीजिए।



पाठ सार

इस पाठ में साधना का उपक्रम किया गया है। मनुष्य जन्म बहुत ही दुर्लभ है वह बहुत पुण्यों के साधन के स्वरूप प्राप्त होता है। इसलिए प्राप्त मानव जन्म किस प्रकार से सर्वोच्चपुरुषार्थ के लाभ के लिए ही व्यय किया जाए इस विषय को भूमिका को प्रकट किया गया है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त शरीर तथा मन से कर्मों को कर्ता हुआ मनुष्य उनका फल प्राप्त करता ही है। इसलिए कर्मों का परिणाम धर्म अधर्म तथा चित्त शुद्धि तीन प्रकार का होता है। इस प्रकार कर्मों के संचित प्रारब्ध तथा क्रियमाण माध्यमों तीन विभाग भी किए गये हैं। वेदादि शास्त्रों के ज्ञान से आचरण से स्वर्गादि अनित्य कर्मजन्यत्व की प्राप्ति होती है इसमें श्रुति तथा स्मृति प्रमाण रूप में है।

मल विक्षेप तथा आवरण इन तीन दोषों के नाश के लिए साधना का उपदेश दिया गया है। निष्काम कर्मयोग के द्वारा मल का नाश होता है। उपासना के द्वारा विक्षेप का तथा ब्रह्मज्ञान के द्वारा अज्ञानावरण का नाश होता है। इनका उपस्थापन इस पाठ में किया गया है।

जिसको ज्ञान होता है। वह पुरुष इन कर्मों की और प्रवर्तित होता है।

इस प्रकार से यह अनुबन्ध की स्थिति होती है।

वेदान्त के अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन भेद से चार प्रकार के अनुबन्ध होते हैं।

अधिकारी यह एक महान विषय है। मुख्य रूप से वेदार्थ को जानने वाला निर्मलचित्त एकाग्रचित्त तथा साधनचतुष्टय से सम्पन्न अधिकारी के रूप में गिना जाता है। ये विषय यहाँ पर क्रम से प्रतिपादित किए गये हैं। इन विषयों का इस पाठ में सामान्य रूप से आलोचन किया गया है। आगे के पाठ में भी इन ही विषयों का अनुसरण किया जाएगा।



पाठान्त प्रश्न

1. सञ्चित् तथा प्रारब्ध किसे कहते हैं?
2. कर्मबन्धनों का वर्णन कीजिए?
3. कर्मभोग योनि का परिचय दीजिए?
4. मानवों के अन्तः करण तीन दोषों का परिचय दीजिए?
5. चित्त के मल की मीमांसा कीजिए?
6. चित्त के विक्षेप की मीमांसा कीजिए?
7. अनुबन्ध के अर्थ का विवरण दीजिए?
8. वेदान्त सार में अधिकारी का लक्षण क्या बताया गया है उसका विवरण दीजिए?
9. अधिकारी कौन होता है इसका विचार कीजिए?
10. अनेक जन्मों में साधनो के अनुष्ठान से किस प्रकार का अधिकारी होता है इसका वर्णन कीजिए?
11. वेदोक्तमार्ग का अधिकारी के द्वारा किस प्रकार से अनुसरण करना चाहिए?



पाठगत प्रश्नों के उत्तर 21.1

1. महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया।
पारं दुःखोदधेर्गन्तुं तर यावन्न भिद्यते॥
मानव शरीर बहुत जन्मों में महान पुण्यों के द्वारा प्राप्त होता है। यह शरीरकाया रूपी एक नौका होता है। जो दुःख सागर से पार जाने के लिए प्राप्त हुआ है। जब तक यह नौक खराब नहीं हो जाती तब तक इसके द्वारा इस संसार से पार जाने का प्रयास कर लेना चाहिए।
2. जो अनात्मवान होता है उसमें काम का उद्भव होता है। काम ही अनात्मफल का विषय होता है। काम प्रेक तथ प्रवर्तक होता है। इसलिए काम कर्मों में प्रवृत्ति उत्पन्न करता है।
3. (क)
4. (ख)



ध्यान दें:



ध्यान दें:



पाठगत प्रश्नों के उत्तर 21.2

5. (क)
6. (क)
7. (ख)
8. (क)
9. ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। (गीता 9.21)
1. मानवों का अन्तःकरण तीन प्रकार के दोषों से दूषित होता है। वे तीन दोष हैं मल, विक्षेप तथा आवरण।
2. चित्त का मल पाप होता है। निषिद्ध कर्मों के आचरण की वासना के द्वारा चित्त के मल का बढ़ता है।
3. चित्त के चाञ्चल्यों से विक्षेप होता है, विषयों के प्रति चित्त का आकर्षण विक्षेप कहलाता है। वह चित्त के चाञ्चल्य को बढ़ाता है।
4. अनात्म में आत्मबुद्ध आवरण से होती है। अर्थात् अनात्म में आत्मबुद्ध करने से आवरण बढ़ता है।
5. (ग)
6. (घ)
7. (घ)
8. अधिकारी विषय सम्बन्ध तथा प्रयोजन इस प्रकार से चार अनुबन्ध होते हैं।



पाठगत प्रश्नों के उत्तर 21.3

1. (घ)
2. (ख)
3. वेदों का जानने वाला निर्मलचित्त, एकाग्रचित्त, साधनचतुष्टय सम्पन्न, वेदान्त प्रयोजन के लाभ में वह अधिकारी कहा जाता है।
3. वेदान्तसार में उक्त अधिकारी के लक्षण में आपततः इस शब्द का तात्पर्य यह है कि शाब्दिक ज्ञान से तो संशय का निवारण होता है लेकिन आत्मज्ञान के प्रतिबन्धिका असम्भावना विपरीतभावना तथा विवर्त होती है।
4. विधिपूर्वक वेदाध्ययन, वेदार्थ का ज्ञान, काम्यनिषिद्धकर्मों का परित्याग तथा नित्यनैमित्तिक प्रायश्चित्त तथा उपासनाओं का अनुष्ठान इत्यादि कर्म यदि पूर्व जन्म में किये हुए रहते हैं तो भी उनका फल तो प्राप्त होता ही है। जो पूर्वजन्मों में इन कर्मों को साधते हैं उनके लिए प्रकृत जन्म में नित्यादिकर्मों को करने की आवश्यकता नहीं होती है।